कुदरत के सच और समाज

कुछ बिखरे हुए सवाल

लाल्टू

यह व्याख्यान 5 नवम्बर, 2022 को *एकलव्य* के चालीस साल और होविशिका के पचास साल होने के उपलक्ष्य में राज्य संग्रहालय, भोपाल में आयोजित 'होविशिका व्याख्यान शृंखला' में दिया गया था।

'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' व्याख्यानमाला में भागीदारी करते हुए मुझे खुशी है, पर साथ ढेर सारा संकोच भी है। इस शहर में होविशिका के साथ वर्षों जुड़े रहे दिग्गज मौजूद हैं, जिन्होंने लगातार इसकी दशा और दिशा तय की है। इनमें से ज़्यादातर मुझसे वरिष्ठ हैं। जो मुझसे उम्र में कम हैं, उनके पास तजुर्बों का खज़ाना है और इन सबके सामने मैं आज भी खुद को 28 साल का युवक महसूस करता हूँ, जो चंडीगढ़ से वाया दिल्ली और रतलाम, उज्जैन पहुँचा है और होविशिका प्रशिक्षण शिविर में शामिल होने आया है।

मैंने अपने उस्ताद के साथ और बाद में शागिर्दों के साथ जो रिसर्च का काम किया है, वह पारम्परिक ढंग के प्रयोगों का नहीं, बल्कि कागज़, कलम और कम्प्यूटरों पर किया सैद्धान्तिक काम है। अक्सर अपने काम का औचित्य समझने/समझाने के लिए औरों

द्वारा किए प्रयोग, जिन्हें 'वेट लैब' कहते हैं, ऐसे काम के साथ संगति की कोशिश की है। कभी *वेट लैब* में हुए काम को सैद्धान्तिक जामा पहनाया है और कभी प्रयोग कर रहे साथी वैज्ञानिक की गलत समझ सुधारी है। पर होविशिका पूरी तरह से कर के देखना यानी प्रयोगों पर आधारित था।

प्रेरणा के स्रोत

दिसम्बर 1978 में कानपुर से मुम्बई के रेल के सफर में अचानक बीच में कहीं गाड़ी में चढ़ गए अरविंद गुप्ता से 'किशोर भारती' के उनके तजुर्बे सुने थे और उन बातों का असर मुझ पर था। होविशिका के साथ जुड़ने की प्रेरणा प्रो. अनिल सद्गोपाल के जनविज्ञान पर लिखे एक लेख से मिली थी, जो मैंने शोध-

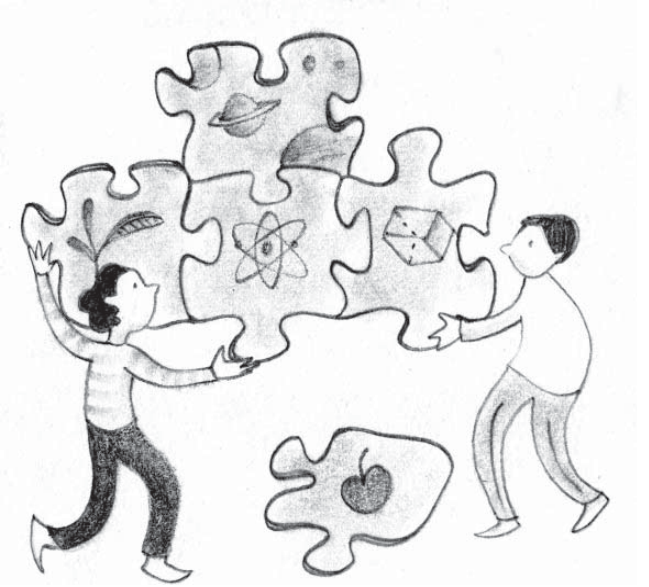

छात्र रहने के दौरान पढ़ा था। इसमें विज्ञान के एक पहलू की बात थी जो हमें conceptual jumps यानी समझ के स्तर पर छलाँग लगाने की काबिलियत देता है, कि हम किसी विषय में एक पहेली हल करने की महारत का इस्तेमाल किसी और विषय में सवाल हल करने के लिए कर सकें। यानी कुदरत के विविध पहलुओं पर जानकारी इकट्ठा करना विज्ञान का मकसद है, पर साथ ही यह हमें ताकत देता है कि हम समाज के दीगर पहलुओं पर भी मानीखेज़ जानकारी पा सकें।

विज्ञान की आलोचना

बात शुरू करने के लिए मैं एक कविता की कुछ पंक्तियाँ पढ़ूँगा। कोई 25 साल पहले कैलिफोर्निया इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी के जीओ-फिज़िक्स के एक प्रो. ऐंडरसन ने यह कविता लिखी थी। कविता कायनात की शुरुआत से आज तक के लम्बे सफर पर क्या समझ बनी है, उस पर है। यानी पहले कुछ भी नहीं था, देश-काल की कोई धारणा नहीं थी, फिर बड़ा धमाका हुआ, खरबों सालों तक बने कण, अणु-परमाणु, फिर तारे और ग्रह, धरती पर जीवन, जीव-जन्तु आदि आदि। आखिरी चार लाइनें हैं -

> Look at Earth crust oceans air Life Cool!
> a trivial speck, an afterthought
> But all we got.
> So here we are, simple and meek,
> Now how do we get through the rest of the week?

देखो यह धरती इसकी परतें,
समन्दर, हवा, जीवन, है न बढ़िया!
महज़ धूल के कण-सा,
जैसे भूल से बन गया, यही है हमारे पास
हम, नादां और लाचार
अब कैसे गुज़ारें आगे के दिन चार?

सब कुछ जान लेने के बाद भी सवाल है कि हम अगले कुछ दिन कैसे गुज़ारें। जाने-अनजाने ऐंडरसन हमें विज्ञान की आलोचना की ओर ले जाते हैं।

होविशिका की शुरुआत के दिनों में न केवल विज्ञान की आलोचना पर समकालीन काम से परिचित हो पाना मुश्किल था, दरअसल वैज्ञानिकों में ऐसी समझ भी कम ही थी कि विज्ञान की भी साहित्य या कला की तरह आलोचना हो सकती है। पश्चिमी मुल्कों में लॉजिकल पॉज़िटिविज़्म, यानी आँखन-देखी और ज़हन में घोटी, जो आज भी अधिकतर विज्ञान-कर्म की बुनियाद है, की चीरफाड़ हो रही थी। हमारे यहाँ संजीदा समझदार लोग, यह सब पढ़ रहे थे। एलीट संस्थानों में विज्ञान पढ़ते हुए इस आलोचना से अछूता रहना नामुमकिन था और एक अधकचरी समझ इस बारे में थी। कह सकते हैं कि विज्ञान में आस्था का संकट था। कभी मैंने एक लेख लिखा था - the universality of fundamental sciences, a third world perspective on the myth (बुनियादी साइंस की आलमी पहचान, तीसरी दुनिया से प्रतिक्रिया)। लेख छपा नहीं, उसमें फिलिस्तीनियों पर चल रहे इज़रायली हमलों का ज़िक्र था, और जिस पत्रिका के लिए लिखा था, वहाँ यह छपना नामुमकिन था। वक्त के साथ विज्ञान में मेरी आस्था बढ़ती रही, और आज पूरी तरह से विज्ञान में ही आस्था रखता हूँ। बराबरी, इन्साफ, प्रेम, अध्यात्म, तकरीबन हर बात - क्या विज्ञान से इतर है और क्या विज्ञान में शामिल है, यह समझ विज्ञान से ही मिलती है।

अक्सर हम विज्ञान और टेक्नो-लॉजी को गड्ड-मड्ड कर लेते हैं और टेक्नोलॉजी की आलोचना को ही विज्ञान की आलोचना कह लेते हैं। टेक्नोलॉजी की आलोचना आसान है। हमारे कॉलेज के दिनों में कैट स्टीवेन्स का एक लोकप्रिय गीत था-

Well, I think it's fine / Building jumbo planes
Or taking a ride on a cosmic train
Switch on summer from a slot machine
Yes, get what you want to if you want / 'Cause you can get anything
I know we've come a long way / We're changing day to day
But tell me, where do the children play?

अच्छी बात है / जम्बो जेट बना ले
अलौकिक रफ्तार से सफर कर ले
सिक्का डालकर मशीन की ठण्डी

हवा खा ले
हाँ, जो जी चाहे ले ले / सब कुछ है तेरे हाथ
सही है कि बहुत आगे बढ़ आए हैं / हर दिन हम बदलते जाए हैं
पर यह बता, कि बच्चे खेलें कहाँ?

सादी सरल आलोचना। बच्चे खेलें कहाँ? - यह सवाल आज और भी ज़्यादा संजीदा बन चुका है। विज्ञान और टेक्नोलॉजी का रिश्ता बड़ा जटिल है - एक सरलीकृत समझ है कि वैज्ञानिक खोज का व्यवहारिक इस्तेमाल ही टेक्नोलॉजी है। दरअसल, आज बहुत सारा विज्ञान टेक्नोलॉजी की बुनियाद पर खड़ा है। कंप्यूटरों के बिना आज विज्ञान-कर्म सोचा भी नहीं जा सकता है। लोगों के ज़हन में विज्ञान की अहमियत टेक्नोलॉजी के चमत्कारों से ही बनती है, लिहाज़ा, विज्ञान पर बात करते हुए टेक्नोलॉजी से बच पाना मुमकिन नहीं है।

संकट और समीक्षा

धरती को जैसा हम आज जानते हैं - जीव-जन्तु, आबोहवा, दो-तीन सदियों तक ऐसा ही रहेगा भी या नहीं, कहना मुश्किल है। दो सदियों बाद हम किसी और मायने में गालिब पढ़ रहे होंगे - 'सब्ज़ा ओ गुल कहाँ से आए हैं/ अब्र क्या चीज़ है हवा क्या है।' ये संकट विज्ञान और टेक्नोलॉजी के इस्तेमाल से ही आए हैं। ऐसे में, विज्ञान के उन मानदण्डों की ओर फिर से देखने की ज़रूरत है जिन पर होविशिका की बुनियाद खड़ी थी। चेतना के स्तर पर तर्कशीलता को बढ़ाना, कुदरत के प्रति सचेत और उत्सुक होना, मान्य सिद्धान्तों पर सवाल खड़े करना - ये आम खासियत उनमें से कुछ हैं। 1988-89 में मैं यूजीसी टीचर फैलोशिप लेकर *एकलव्य* के हरदा केन्द्र के साथ जुड़ा, तब तक मध्य प्रदेश के कुछ

ज़िलों के मिडिल स्कूलों में होविशिका के समान्तर सामाजिक विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम भी शुरू हो गया था। इस दौरान देश में जन-विज्ञान आन्दोलन की एक नई लहर खड़ी हो रही थी। यह सब देश-काल और व्यवस्था की सीमाओं के अन्दर रहकर होना था। आलोचना की नई खिड़कियाँ खुल रही थीं। अनिल भाई से एक बात मैंने जानी थी कि पोषण पर दो अलग नज़रियों से जानकारी फैलाई जा सकती है। एक महज़ विज्ञान को लोकप्रिय बनाने का नज़रिया है, जिसके मुताबिक ठोस जानकारी लोगों तक पहुँचाई जाए कि वे कैसा भोजन लें, उसमें कितना कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, खनिज, विटामिन आदि हो; यह पाठ्यपुस्तक किस्म की जानकारी है। दूसरा यह कि न्यूनतम पोषण कैसा हो। पहला नज़रिया महज़ जानकारी है, जबकि दूसरा हमें मजबूर करता है कि हम पूछें कि हर इन्सान की न्यूनतम माली ज़रूरत कितनी है कि वह उचित पोषण पा सके। यानी हम समाज में गैरबराबरी और बड़े तबके की बदहाली पर सोचते हैं। जन-विज्ञान हमेशा मान्यताओं पर सवाल खड़ा करता रहा है, पंजाब की तर्कशील सोसायटी हो या महाराष्ट्र का लोक विज्ञान संगठन, या केरल का शास्त्र साहित्य परिषद हो या तमाम साइंस क्लब जो देश के अलग-अलग हिस्सों में चलते रहे हैं। करीब पचीस साल पहले मैंने जनसत्ता के चंडीगढ़ संस्करण में लिखे एक लेख में यह प्रस्तावना रखी थी कि इन आंदोलनों पर समाज-शास्त्रीय अध्ययन किया जाना लाज़मी है। यानी हम लोग जो कम या ज़्यादा, अलग-अलग अवधियों तक इनसे जुड़े रहे हैं, हम कौन हैं, कहाँ से आए हैं, और हम कैसा नज़रिया अपनाते हैं।

आज़ादखयाली में कितना आज़ाद?

पिछली आधी सदी में समाज-विज्ञान के कई चिन्तकों ने बार-बार कहा है, हमारा सामाजिक अतीत हर तरह के पाठ में हमारे साथ रहता है। वह हमें लचीला होने से रोकता है। आज़ादखयाली में भी हम पूरी तरह आज़ाद नहीं हो पाते। हम वही देखते हैं जो हमारी आस्था के अनुकूल होता है, वह नहीं देख पाते जो हमारे जज़्बात से टक्कर ले पाए। देरीदा का प्रसिद्ध कथन है 'there is nothing outside the text' – अगर मैं सामन्ती सरोकारों के साथ ही पला-बढ़ा हूँ, तो मैं जो कुछ भी देखता-कहता-लिखता हूँ, उस पर मेरा अतीत हावी रहेगा।

मैंने साधारण हिन्दी माध्यम स्कूल से पढ़ाई की। स्कूल में विज्ञान नीरस ढंग

से पढ़ाया जाता था। मेरी रुचि साहित्य और गणित में थी। मुहल्ले के जानकार बड़े लोगों की सिफारिश और कुछ वजीफे की शर्त थी कि आगे की पढ़ाई अपने आप तय हुई। मैं केमिस्ट्री में लगातार गणित की ओर झुकता रहा और बाद में मौका मिलते ही सैद्धान्तिक शोध में आ गया। ऊँची तालीम मुझे हिन्दुस्तान और दुनिया के बेहतरीन संस्थानों से मिली, पर होविशिका से जुड़कर मैंने बहुत कुछ नया सीखा।

होविशिका के आखिरी दौर में दुनिया कई मायने में लगातार छोटी होती जा रही थी। नब्बे के दशक में विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों में इंटरनेट आ चुका था। जब तक हैदराबाद में IIIT यानी देश की पहली सूचना टेक्नोलॉजी यूनिवर्सिटी बनी, हमारे और पश्चिम के बौद्धिकों में ज़हनी छलाँगों की दूरियाँ कम हो चली थीं और हम एक अजीब हाइपर-रियलिटि का हिस्सा बन चुके थे, जिसमें अचानक सब कुछ मीडिया-तंत्र के हाथों तय होने लगा था। एक नारा उछला कि इतिहास का अन्त हो चुका है यानी हाल की सदियों में जो लोकतंत्र आधारित समाज और बराबरी के सपने उभरे थे, उनकी जगह बड़े पैमाने की गैरबराबरी की बुनियाद पर खड़े सरमायादारी के सियासी ढाँचे ही अब हमारी नियति है। अगले दो दशकों में झूठ को सच बनाकर पेश करने वाली फैक्ट्रियाँ हमारे चारों ओर पनप गई हैं। होविशिका का रुकना या खत्म होना, एक बड़ी त्रासदी का हिस्सा था जो आलमी पैमाने पर हो रही थी। फिर भी सोचना लाज़मी है कि हम इस पूरे दौर में कहाँ थे और हमने इस दौरान क्या कुछ किया।

विज्ञान से हम क्या समझते हैं?

विज्ञान से हमारा मतलब हाल की सदियों में पश्चिमी मुल्कों में तेज़ी-से आए बदलावों से होता है, जिनमें खास किस्म का दार्शनिक चिन्तन भी शामिल है। यह सोच अचानक नहीं टपकी; चीन, दक्षिण एशिया, ईरान, ईराक आदि में सदियों से जो वैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्तन विकसित हुआ, उसके साथ आधुनिक विज्ञान का गहरा सम्बन्ध है, फिर भी विज्ञान को जिन खासियतों से आज हम जानते हैं, और इसमें कोई आखिरी फैसला अभी तक बन नहीं पाया है - ये बातें हाल की सदियों में पश्चिम में ही गहराई से सोची गईं।

देश-काल के पैमानों में विज्ञान के विषयों की व्यापकता हमें हैरान और अभिभूत करती है। परमाणु की नाभि में मौजूद सूक्ष्मतम कणों से लेकर कायनात के दोनों छोरों तक की जानकारी इकट्ठी करना प्रकृति विज्ञान (natural sciences) है। कायनात की शुरुआत के बड़े धमाके से लेकर अभी तक को साल भर के कैलेंडर में समेटा जाए तो इन्सानी सभ्यता के

लिए आखिरी पन्द्रह मिनट ही बनते हैं। यानी अगर पहली जनवरी की शुरुआत (आधी रात) में कायनात बनती है तो मानव सभ्यता 31 दिसम्बर को रात ग्यारह बजकर पैंतालीस मिनट पर सामने आती है। आम तजुर्बे में बहुत तेज़ी-से हो रही घटनाएँ भी एक सेकण्ड में हज़ार बार से ज़्यादा नहीं होतीं। विज्ञान में पल भर में खरबों-खरबों बार हो रही घटनाओं पर भी प्रयोग होते हैं। नहीं के बराबर ऊर्जा से लेकर सारी कायनात में व्याप्त ऊर्जा से जुड़ी घटनाओं को जाना-परखा जाता है। विज्ञान हमें यह बताता है कि इस विशाल कायनात में हमारा अस्तित्व नहीं के बराबर है। साथ ही, विज्ञान हमें यह साहस देता है कि हम हर मान्यता पर सवाल खड़ा कर सकें। इस वजह से सही-गलत धारणा बनी है कि यही इल्म का सबसे ऊँचा दर्जा है।

कुदरत के रंग अनोखे हैं। इसलिए इसे जानने की चाह हर इन्सान में है। हर खित्ते में, हर पैमाने पर अनोखे रूप दिखते हैं। गुरुत्वाकर्षण और कभी-कभी विद्युत-चुम्बकीय आकर्षण से बने पिण्ड, जैसे धूमकेतु, ग्रह-उपग्रह, तारे, तारामण्डल, नीहारिका आदि हैं, इस खगोली विशालता की तुलना में बहुत छोटे पैमाने पर धरती की सतह पर कई किस्म की रचनाएँ हैं। वैज्ञानिक इनको अलग-अलग वर्गों में बाँटकर इनका अध्ययन करते हैं। वर्गीकरण सिखाने की अहमियत

होविशिका पाठ्यक्रम में थी। जीव जगत में भी वर्गीकरण बुनियादी बात है। जीव-जगत से सूक्ष्मतर किसी पौधे या प्राणी की कोशिकाओं में विविधताएँ देख सकते हैं। उससे भी आगे अणु-परमाणु-नाभि में विविध प्रकार की रचनाएँ हैं। कायनात की शुरुआत से आज तक, कणों से लेकर ग्रह-तारे तक के सफर को भी अलग युगों में बाँटकर अध्ययन किया जाता है। जैविक विकास और धरती की परतों में वक्त के साथ बदलाव को अलग-अलग युगों में बाँटकर देखा जाता है। पिछले तकरीबन दस हज़ार सालों से हम होलोसीन युग में हैं। इन्सानी घुसपैठ से आ रहे बड़े बदलावों की वजह से कहा जाता है कि पिछले सत्तर सालों से हम ऐंथ्रोपोसीन युग में आ गए हैं (ऐंथ्रोपोस यानी इन्सान)।

मानविकी विज्ञान से कमतर नहीं

उन्नीसवीं सदी के आखिर तक यूरोप में तेज़ी-से हुई औद्योगिक तरक्की का सेहरा विज्ञान के माथे पर था। कई विचारकों ने कहना शुरू किया कि समाज और उससे जुड़े राजनैतिक एवं प्रशासनिक ढाँचे विज्ञान पर आधारित होने चाहिए। कुदरत के सच इन्सान के वजूद से आज़ाद हैं, इसलिए मान लिया गया कि वैज्ञानिक पूर्वाग्रहों से आज़ाद होकर काम करते हैं।

जब कुदरत से हटकर समाज को देखते हैं तो ज़ाहिर होता है कि सच

क्या है, यह जानना आसान नहीं है। जो दिखता है, वह इस पर निर्भर करता है कि देखने वाला कौन है, किस समाज, वर्ग, जाति, धर्म, जेंडर का है। ज़बान, एहसास, तर्कशीलता और जज़्बात से हमें सच की तलाश में मदद मिलती है, पर हर वह बात जिसे हम सच मानते हैं, सचमुच सत्य हो, कोई ज़रूरी नहीं। ज्ञान पाने के दीगर तरीकों के बनिस्बत विज्ञान के ज़रिए हम सत्य के और ज़्यादा करीब जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं। ज्ञान की निश्चितता पर सवाल उठते हैं तो ज़ाहिर है कि विज्ञान पर भी सवाल उठेंगे। विज्ञान से हमारा मतलब ऐसे बौद्धिक औज़ार, तरीके और जानकारियों से है, जिनका इस्तेमाल वैज्ञानिक करते हैं। समाज-विज्ञान में इन्सानी फितरत को समझने के लिए, एक मि.मी. से लेकर धरती से चाँद या सूरज की

दूरी तक काफी हैं, और वक्त का पैमाना भी एक पल से लेकर कुछ करोड़ सालों से ज़्यादा नहीं चाहिए। पर इन्सानी फितरत की जटिलताएँ इतनी हैं कि ज्ञान की विधाओं में समाज विज्ञान या मानविकी किसी मायने में कुदरत के विज्ञान से कम नहीं हैं। फिर भी हम बचपन से सुनते आए हैं कि यह विज्ञान का युग है।

अदब और कला में अक्सर विज्ञान और टेक्नोलॉजी को लेकर गहरी चिन्ताएँ रखी गई हैं। 1818 में मैरी शेली का *फ्रांकेन्स्टाइन*, 1886 में रॉबर्ट लुइस स्टीवेन्सन का *डॉ. जेकिल एंड मिस्टर हाइड*, 1896 में एच.जी. वेल्स का *द आइलैंड ऑफ डॉ. मोरो*, बीसवीं सदी में आल्डस हक्सले का *द ब्रेव न्यू वर्ल्ड*, पीटर जॉर्ज का *रेड अलर्ट*, जिस पर *डॉ. स्ट्रेंजलव* फिल्म बनी थी - उपन्यासों और फिल्मों में वैज्ञानिकों की छवि अक्सर तानाशाही प्रवृत्ति की दिखाई गई है, जो दुनिया को तबाही की राह पर ले जा रहे हैं। करीब ग्यारह साल पहले यूरोप में आइसलैंड में एक ज्वालामुखी के विस्फोट की वजह से धुँआ फैलने से कई देशों में हफ्ते भर हवाई उड़ानें बन्द कर दी गई थीं। स्लावोए ज़िज़ेक ने इसे एक चेतावनी की तरह समझाया कि याद रखें कि इन्सान धरती पर अनगिनत प्राणियों में से महज़ एक है। इन सभी

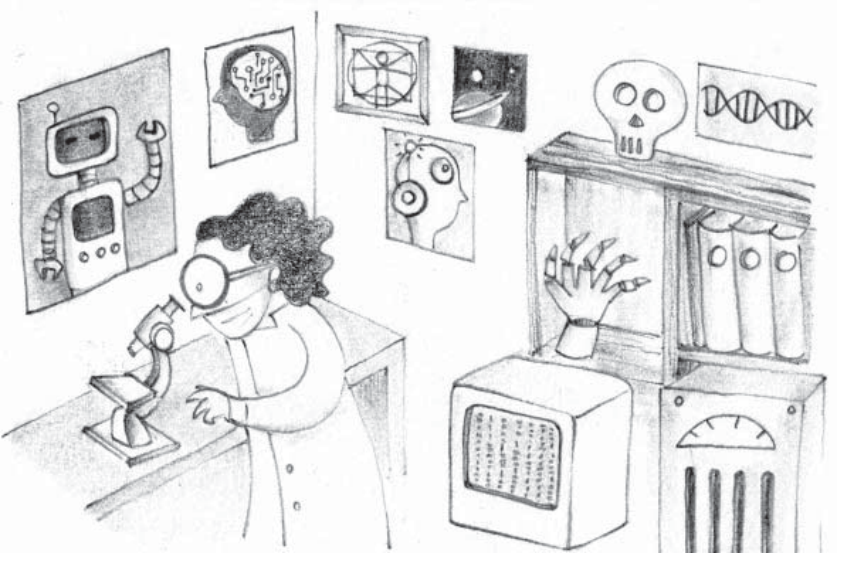

आलोचनाओं से अलग कुछ बुनियादी चिन्ताएँ हैं, जिन पर मैं बात रखना चाहता हूँ। पहले हम संक्षेप में यह समझें कि दरअसल वैज्ञानिक पद्धति क्या होती है।

वैज्ञानिक पद्धति

वैज्ञानिक पद्धति में खास तरह की तर्क संरचनाओं का इस्तेमाल होता है। होविशिका में कर के देखने पर पूरा ज़ोर डाला गया था, जो मूलत: इंडक्शन या अनुगमन पर आधारित था। कुछ व्यावहारिक और कुछ दार्शनिक खासियतें हैं, जो पद्धति के रूप में ज्ञान पाने के अन्य तरीकों से विज्ञान को अलग करती हैं।

- व्यावहारिक स्तर पर विज्ञान में उन्हीं सवालों पर खोजबीन होती है, जो कुदरत में हैं।
- किसी भी घटना पर अवलोकनों को दर्ज़ कर उस पर अनुमान लगाए जाते हैं।
- अनुमान ऐसे होने चाहिए जिनकी जाँच की जा सके। जैसे एक पंछी की तान उसे अपने माँ-बाप से मिली है या वह अपने आप सीखता है, इन दो अनुमानों को जाँचकर सही या गलत साबित किया जा सकता है। पंछी के अण्डे को किसी और प्रजाति के पंछी के घोंसले में रखा जा सकता है, और जाना जा सकता है कि जन्म लेने के बाद धुन परिवेश से नहीं, माँ-बाप से मिली है। जिन अनुमानों पर जाँच नहीं हो सकती, वे विज्ञान के दायरे के बाहर हैं।
- जाँच के द्वारा मिले आँकड़ों के मुताबिक किसी अनुमान को स्वीकार या खारिज किया जाता है।
- लगातार प्रयोगों में मिले नतीजों से हम कुदरती कायदे जान सकते हैं।

बार-बार दुहराई जाँच, इनके आधार पर अनुमान, भिन्न अनुमानों पर आधारित प्रयोग, प्रयोगों में पाई जानकारी के आधार पर बनाए गए नियमों और आखिर में सिद्धान्त तक पहुँचने की एक शृंखला है। मसलन, कोई भी चीज़ अणुओं-परमाणुओं की बनी है, और ये कण एक-दूसरे से अलग विचरते हैं, इस धारणा को वैज्ञानिक सिद्धान्त बनने में तकरीबन दो हज़ार साल लगे। परमाणु में नाभि और नाभि के बाहर क्या कुछ है, इसकी साफ समझ सौ साल पहले ही बनी।

सिर्फ गुणात्मक नहीं, परिमाणात्मक आँकड़े चाहिए। मानविकी में हमेशा परिमाण या मात्रा की बात नहीं करते। कविता या कला की खूबसूरती का कोई पैमाना नहीं हो सकता। विज्ञान में जिन राशियों को मापा जाता है, उन पर नियंत्रण होना भी लाज़िम है। अगर तापमान में बदलाव किया जाए तो इसका असर देखने के लिए पक्का करना होगा कि किसी और राशि में

बदलाव न हो। इसी तरह कोई दवा कारगर है या नहीं, इसके लिए एक ही मर्ज़ के अलग-अलग रोगियों को असली दवा और वैसा ही दिखता कुछ और देकर, देखा जाता है कि दवा के असर में फर्क है या नहीं। अगर फर्क नहीं है, तो दवा कारगर नहीं है।

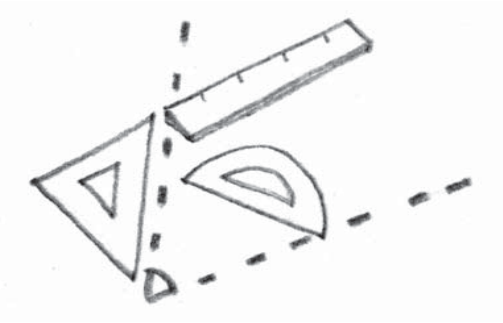

दार्शनिक पहलू

अब हम कुछ दार्शनिक पहलुओं पर बात करेंगे। पहले दो बातें इतिहास और समाज-शास्त्र पर।

यूरोप में प्रबोधन और आधुनिक विज्ञान का उभार तकरीबन एक ही समय हुआ। आधुनिकता और विज्ञान को अक्सर एक-दूसरे का पर्याय मान लिया गया। नवजागरण ने सत्य के सार्वभौमिक सिद्धान्तों पर विश्वास पैदा किया था। इसके उलट उत्तरआधुनिक चिन्तक स्थानीय परम्पराओं को स्वीकार करते हैं, जो चाहे पूरी तरह तर्क आधारित हों या न हों।

प्रबोधन ने कायनात में इन्सान को स्वच्छन्द अस्तित्व दिया। वह कुदरत का होकर भी कुदरत से अलग हो पाया। औद्योगिक विकास की रफ्तार के साथ इन्सान ने कुदरत को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करने के गुर बढ़ाए। हम, कुदरत, और कुदरत के साथ हमारे रिश्ते को लेकर सार्वभौमिक नियमों की तलाश और प्रस्तावना हुई। उन्नीसवीं सदी तक यह बात कुदरत से आगे इन्सान के बनाए समाज तक आ गई। बीसवीं सदी में मेर्टन ने विज्ञान के समाजशास्त्र की प्रस्तावना रखी, जिसमें विज्ञान को सामुदायिक, सार्वभौमिक, उदासीन, संगठित जिज्ञासा का शास्त्र कहा गया। फिर जल्दी ही विज्ञान की निरपेक्षता और समाज में वैज्ञानिकों के रुतबे को चुनौती भी मिली। सार्वभौमिक आख्यानों की धारणा पर सवाल उठे। यूरो-केन्द्रिक सोच और यूरोपी मुल्कों द्वारा उपनिवेशों की बेइन्तहा लूट पर सवाल उठे। सदी के बीचोबीच तक नाभिकीय बम-विस्फोट या उद्योगों के कारण पर्यावरण का विनाश बढ़ता चला था, ओज़ोन परत में छेद और मौसम का गर्म होते रहना ज़ाहिर हो रहा था। विज्ञान की दुनिया में सब कुछ ठीक नहीं था, पर ज़्यादातर आलोचना का सम्बन्ध सामाजिक-राजनैतिक ढाँचों से अधिक और

खालिस विज्ञान से कम था। मसलन, विज्ञान के पेशे में आजतक स्त्रियों की मौजूदगी बहुत कम है। पर क्या ये समस्याएँ विज्ञान की हैं, जो ज्ञान पाने का एक साधन है या उस पेशे की हैं, जो वैज्ञानिक कहलाता है, या बृहत्तर समाज की हैं, यह सवाल है।

बीसवीं सदी की शुरुआत में दार्शनिकों में पुरज़ोर बहस जारी थी कि विज्ञान क्या है। लॉजिकल पॉज़िटिविज़म या तर्क आधारित प्रत्यक्ष ज्ञान ही श्रेष्ठ है, यह धारणा बढ़ रही थी। सूक्ष्म और स्थूल, हर स्तर पर हमेशा प्रत्यक्ष तजुर्बा नामुमकिन है, इसलिए सीमित तजुर्बों को गणित और तर्क में बाँधकर सैद्धान्तिक समझ बनाना ज़रूरी है। सौ साल पहले बात यहीं तक थी, पर पिछली सदी में विज्ञान के दर्शन में लगातार बहसें चलती रहीं। इस पर विषद चर्चा यहाँ मुमकिन नहीं है, दो-एक बातें रख रहा हूँ। छठे दशक तक यह मान लिया गया था कि विज्ञान ज्ञान पाने का एक अनोखा तरीका है, जो देश-काल या सामाजिक-ऐतिहासिक हालात पर निर्भर नहीं करता है। थॉमस कुन ने 1962 में 'स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रीवोल्यूशन्स (विज्ञान के इन्कलाबों की संरचना)' नामक किताब लिखी, जिससे विज्ञान के सामाजिक पहलुओं और दर्शन का अध्ययन करने वालों में तहलका मच गया। कुन ने वैज्ञानिक खोजों के इतिहास को गहराई से देखा। उसने दिखाया कि ज़्यादातर वैज्ञानिक अपने वक्त के मान्य सिद्धान्तों के दायरे में ही काम करते हैं। ऐसे विज्ञान-कर्म को कुन ने नॉर्मल साइंस और मान्य सिद्धान्तों को पैराडाइम कहा। कभी-कभार कोई वैज्ञानिक खोज ऐसी होती है जो मान्य सिद्धान्तों के मुताबिक समझ में नहीं आती। यह ऐनोमली है। जब ऐसी कई सारी ऐनोमली इकट्ठी हो जाती हैं तो नए सिद्धान्त गढ़े जाते हैं। यह पैराडाइम शिफ्ट कहलाता है। पैराडाइम शिफ्ट के साथ विज्ञान में ढाँचागत इंकलाब आते हैं। सूर्य-केन्द्रिक ग्रह-मण्डल, परमाणुओं से पदार्थ की संरचना, जैविक विकास का सिद्धान्त, क्वांटम गतिकी आदि ऐसे इंकलाब की मिसाल हैं।

पैराडाइम का सिद्धान्त और विज्ञान की आलोचना

पैराडाइम के सिद्धान्त ने विज्ञान के आलोचकों को खुली छूट दे दी। चौतरफा हमला शुरू हुआ कि विज्ञान सामाजिक-राजनैतिक प्रभावों से मुक्त नहीं है। दूसरे विश्व-युद्ध में हिरोशिमा-नागासाकी और बाद में अमेरिका और रूस के बीच शीतयुद्ध से यूरोप में फैले खौफ के माहौल, और पर्यावरण के विनाश जैसी आधुनिक जीवन की तमाम दीगर मुश्किलों की वजह से इस आलोचना को ताकत मिली।

ज्ञान-विज्ञान की सभी बातों की मुख्य समस्या यह है कि हम मान रहे हैं कि जो कुछ देखा-जाना जाता है, उसे हम अपने से अलग कर सकते हैं। यह विवादास्पद है। दृश्य में द्रष्टा के शामिल होने की समस्या ज्ञान पाने में सबसे बड़ी बाधा है। प्रकृति विज्ञान में एक हद तक इससे बचा जा सकता है, क्योंकि हम खुद प्रयोगों के आँकड़े दर्ज़ न कर मशीनों का इस्तेमाल कर सकते हैं। मानविकी में इससे निजात नामुमकिन है। हर नतीजे पर पहुँचने से पहले जिज्ञासु की पहचान करनी ज़रूरी है। विज्ञान में भी सूक्ष्म स्तर पर यानी अणु-परमाणुओं के गुणधर्मों पर द्रष्टा का प्रभाव पड़ता है। आम वैज्ञानिक खोजों में यह प्रभाव नहीं दिखता है, जबकि समाज विज्ञान में आम तौर पर खोज करने वाले की पहचान शोध के नतीजे में दिखती है। विज्ञान में प्रयोगों के चयन और आँकड़ों के विश्लेषण में

पूर्वाग्रह हो सकते हैं, इसलिए अलग-अलग लोगों द्वारा अलग-अलग जगह पर अलग-अलग समय पर जाँच ज़रूरी हो जाती है। इसके बावजूद यह कहना सही नहीं है कि वैज्ञानिक नतीजे पूर्वाग्रहों से मुक्त होते हैं। विज्ञान पढ़ाना, पाठचर्या तय करना, यह सब सामाजिक पूर्वाग्रहों से आज़ाद नहीं होते।

(जारी)

हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू': सेंटर फॉर कम्प्यूटेशनल नेचुरल साइंस एंड बायोइन्फॉर्मेटिक्स, आई.आई.आई.टी., हैदराबाद में प्रोफेसर। प्रिंसटन यूनिवर्सिटी, न्यू यॉर्क, यूएसए से पीएच.डी.। सन् 1987-88 में *एकलव्य* के साथ यूजीसी द्वारा स्पेशल टीचर फैलोशिप पर हरदा में रहे। आप हिन्दी में कविता-कहानियाँ भी लिखते हैं।

सभी चित्र: सौम्या मैनन: चित्रकार एवं एनिमेशन फिल्मकार। विभिन्न प्रकाशकों के बच्चों की किताबों एवं पत्रिकाओं के लिए चित्र बनाए हैं। बच्चों के साथ काम करना पसन्द करती हैं।